भगवान श्री रजनीश
अहिंसादर्शन

अहिंसा दर्शन

भगवान् श्री रजनीश

सम्पादन :
स्वामी योग चिन्मय

जीवन जागृति आन्दोलन प्रकाशन, बम्बई,
१९७२

प्रकाशक :
ईश्वरलाल नाराणजी शाह,
मंत्री, जीवन जागृति केंद्र,
३१, इजरायल मोहल्ला,
भगवान भुवन, मस्जिद बंदर रोड,
बम्बई-९

द्वितीय आवृत्ति, प्रति : ३०००, अगस्त, १९६६
तृतीय आवृत्ति, प्रति : ३०००, जुलाई, १९६९
चतुर्थ आवृत्ति, प्रति : ५०००, सितम्बर, १९७२

मूल्य : रु. १.००

मुद्रक :
मे० खेमराज श्रीकृष्णदास,
अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
७ वीं खेतवाड़ी, बम्बई-४
के लिये डी० एन० शर्मा

अहिंसा दर्शन

मैं आपकी आंखों में झांकता हूं। एक पीड़ा, एक घना दुख, एक गहरा संताप वहां मुझे दिखाई देता है। जीवन के प्रकाश और उत्फुल्लता को नहीं, वहां मैं जीवन विरोधी अंधेरे और निराशा को घिरता हुआ अनुभव करता हूं। व्यक्तित्व के संगीत का नहीं, स्वरों की एक विषाद भरी अराजकता का वहां दर्शन होता है। सब सौंदर्य, सब लययुक्तता, सब अनुपात खंडित हो गये हैं। हम अपने को व्यक्ति कहें, शायद यह भी ठीक नहीं है। व्यक्ति के लिये एक केन्द्र चाहिये, एक सुनिश्चित संगठन चाहिये, वह नहीं है। उस व्यक्तित्व संगठन और केन्द्रीयता के अभाव में हम केवल अराजकता में हैं।

मनुष्य टूट गया है। उसके भीतर कुछ बहुमूल्य खो गया और खंडित हो गया है। हम किसी एकता के जैसे खंडहर और अवशेष हैं। वह एकता महावीर में बुद्ध में, क्राइस्ट में परिलक्षित होती है। वे व्यक्ति हैं, क्योंकि वे स्वरों की अराजक भीड़ नहीं, संगीत हैं, क्योंकि वे स्वविरोध से भरी अंधी दौड़ नहीं, एक सुनिश्चित गति और दिशा हैं।

जीवन अपने केन्द्र और दिशा को पाकर आनंद में परिणत हो जाता है। व्यक्तित्व को और उसमें अंतर्निहित समस्वरता को उपलब्ध कर लेना, वास्तविक जीवन के द्वार खोलना है। उसके पूर्व जीवन एक वास्तविकता नहीं केवल एक संभावना है। एक भविष्य है।

मनुष्य के व्यक्तित्व विघटन की यह दुर्घटना सारे जगत् में घटी है। हम अपने ही से विच्छिन्न और पृथक् हो गये हैं। यह एक ऐसा वृत्त है, जिसका केन्द्र खो गया है और केवल परिधि ही शेष रह गई है। हम जीवन की परिधि पर दौड़ रहे हैं, दौड़ते रहेंगे और फिर गिर जायेंगे और एक क्षण को भी उसे नहीं जानेंगे जिसे विश्रांति कहते हैं। तेलघानी में कोल्हू के बैलों जैसी हमारी गति हो गई है।

जीवन परिधि ही नहीं है, केन्द्र भी है, यह जाने बिना सब प्रयास, सब गति अंततः व्यर्थ और निस्सार हो जाती है। उसके ज्ञान के अभाव में श्रम की सब धारायें दुख के सागर में ले जाती हैं। जीवन की परिधि पर तो केवल क्रियायें हैं, सत्ता तो वहां नहीं है। मैं, मेरा अस्तित्व, मेरा होना तो वहां नहीं है। मैं अपनी प्रमाणिक सत्ता में तो उस तल पर अनुपस्थित हूँ।

क्रिया के तल पर मुझे नहीं पाया जा सकता है। उससे कहीं और गहरे और गहराईयों में उसे पाया जा सकता है, जो मैं हूँ। इस गहराई को जाने बिना, इस आत्यंतिक सत्ता से आंतरिक रूप से संबंधित हुये बिना जीवन एक भटकाव है, एक बोझिल यात्रा है। इस स्व से, इस सत्ता से संबंधित हुये बिना जीवन एक आनंद यात्रा में परिणत नहीं होता है।

मैं एक उखड़े हुये वृक्ष का स्मरण करता हूँ। जब भी मनुष्य के संबंध में सोचता हूँ, यह अनायास ही स्मृति में उभर आता है। न जाने क्यों मैं मनुष्य को वृक्ष से भिन्न नहीं समझ पाता हूँ। शायद, जड़ों के कारण ही यह समता चित्त में घिर गई है। **व्यक्ति अपने सत्ता केन्द्र से टूट जाय तो उखड़े वृक्ष की भांति हो जाता है।** स्वरूप से जो वियुक्त है, वह सत्ता से जड़ें खो रहा है।

कैसा आश्चर्य है कि हम स्वयं से ही अपरिचित होते जा रहे हैं? जैसे वह दिशा जानने की ही नहीं है? जैसे वह कोई दिशा ही नहीं है? यदि भूलचूक से कोई अपने से मिल जाये, यदि अनायास कहीं स्वयं से साक्षात् हो जाये, तो जिससे मिलन हुआ है, उसे देख अवाक् हो रह जाना पड़ेगा, पहचानना तो किसी भी तरह संभव नहीं है।

स्व से, स्वभाव से हमारी जड़ें उखड़ गई हैं। हम हैं, पर स्वयं में नहीं, सबसे परिचित हैं, पर स्वयं से अनजान और अजनबी हो गये हैं। बाहर ज्ञान बढ़ा है, भीतर

अज्ञान घना हो गया है। दिये के तले अंधेरा होने की बात बहुत सच हो गई है। शक्ति आई है, शांति विलीन हो गई है। विस्तार हुआ है, गहराई नहीं आई है। असंतुलन और पक्षाघात से घिर गये हैं।

जैसे कोई वृक्ष बाहर विस्तृत हो पर भीतर उसकी जड़ें सड़ने लगी हों, ऐसा ही मनुष्य के साथ हुआ है। इससे दुःख, विषाद और संताप पैदा हुआ है, निराशा और आसन्न मृत्यु की कालिमा बढ़ी है, जैसे किसी भी वृक्ष की भूमि से जड़ें ढीली होने पर होती है। मनुष्य की भी जड़ें हैं और उसकी भी भूमि है। इस सत्य को पुनः उद्घोषित करने की आवश्यकता है। यह अत्यंत आधारभूत सत्य विस्मृत हो गया है। इस विस्मृति के कारण हम क्रमशः अपनी जड़ें अपने हाथों खो रहे हैं। एक सतत आत्मघात में हम लगे हैं। यह जड़ों को खोना हमें निरंतर गहरे से गहरे दुख, विषाद और मृत्यु में ले जा रहा है।

प्रत्येक व्यक्ति को मैं दुख से घिरा देखता हूँ और यह स्मरणीय है कि जब एक व्यक्ति दुखी होता है, तो वह अनेकों के दुख का कारण बन जाता है। मैं यदि दुखी हूँ तो अनिवार्यतः दूसरों के दुख का कारण बन जाऊंगा। जो मैं हूँ, वही मेरे संबंधों में व्याप्त हो जाता है। यह स्वाभाविक ही है। क्योंकि, अपने संबंधों में मैं स्वयं को ही तो डालता और उड़ेलता हूँ, अन्यथा संभव नहीं है। मेरे संबंध मेरे ही प्रतिरूप और मेरे ही स्वर हैं। उनमें मैं ही प्रतिबिम्बित और प्रतिध्वनित हूँ। मैं ही उनमें उपस्थित हूँ। इससे यदि मैं दुखी हूँ, दुख हूँ, तो दुख ही मुझसे प्रवाहित और प्रसारित होगा।

सरोवर में जैसे लहर-वृत्त एक छोटे से केन्द्र पर उठकर दूर-दूर व्याप्त हो जाते हैं, ऐसे ही मेरे व्यक्ति-केन्द्र पर जो संवृत्त जाग जाते हैं, वे मुझ तक ही सीमित नहीं रहते हैं, उनकी प्रतिध्वनियां दूर दिगन्त तक सुनी जाती हैं। **व्यक्ति में जो घटित होता है, वह बहुत शीघ्र अनन्त में परिव्याप्त हो जाता है।** व्यक्ति और विराट् के बीच वस्तुतः सीमायें नहीं हैं। वे अनन्त मार्गों से संबंधित और अन्तः संवादित हैं।

मैं दुख हूँ, तो मैं दुख देने वाला हूँ। न चाहूँ, तब भी प्रतिक्षण मुझसे वह प्रवाहित हो रहा है। वह विवशता है। क्योंकि जो मेरे पास है, वही तो मैं दे सकता हूँ। जो मेरे स्वयं के ही पास नहीं है, उसे चाहकर भी तो नहीं दिया जा सकता है। संबंधों में हम आकांक्षाओं को नहीं, अपने को ही देते हैं। **शुभ आकांक्षायें ही नहीं, मेरा शुभ होना आवश्यक है।** मंगल कामनायें ही नहीं, मेरा मंगल होना आवश्यक है। स्वप्न नहीं सत्ता ली दी जाती है। इससे कितने ही लोग चाहकर भी न किसी को आनंद, न शांति, न प्रेम ही दे पाते हैं। उनकी शुभाकांक्षाएं असंदिग्ध हैं, पर उतना ही पर्याप्त

नहीं है। उनके स्वप्न सच ही सुंदर हैं, पर सत्ता के जगत् में उनका प्रभाव पानी पर खींची गई रेखाओं से ज्यादा नहीं है। उनसे काव्य तो बन सकता है, पर जीवन अस्पर्शित रह जाता है।

हम देना चाहते हैं आनंद—और कौन नहीं देना चाहता है?—पर दे पाते हैं, दुख और विषाद। देना चाहते हैं प्रेम और जो दे पाते हैं, उसमें कहीं दूर भी प्रेम की ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती है और तब कैसी एक रिक्तता, कैसी एक असफलता, कैसी एक व्यर्थता अनुभव होती है? कैसा सब हारा हुआ और पराजित लगता है। पराजय के इन क्षणों में सब दिशा सूत्र खो जाते हैं, सब प्रयोजनवत्ता खो जाती है, सब अर्थ खो जाता है। शेष रह जाता है, एक अवषाद और अकेलापन, जैसे हम जगत् में अकेले ही छूट गये हों। इन क्षणों में अपनी असमर्थता और असहायावस्था दीखती है।

शुभाकांक्षाओं के, स्वप्नों के अनुकूल परिणाम नहीं आते हैं, क्योंकि सत्ता उनके-प्रतिकूल होती है। इससे जीवन सरिता सार्थकता और कृतार्थता के सागर तक पहुँचती ही नहीं, व्यर्थता और अतृप्ति के मरुस्थल में विलीन और अपशोषित होती मालूम होती है। **अर्थहीनता-बोध की इस मनः स्थिति में यदि थोड़ी सी भी अमूर्च्छा हो, तो एक अत्यंत मूलभूत भ्रम-भंग हो सकता है** और उस भ्रमभंगता के आलोक में व्यक्ति जीवन के एक आधार भूत सत्य के प्रति जाग सकता है। उस विद्युत आलोक में दीख सकता है कि जीवन की अंतस् सत्ता से अर्थहीनता पैदा नहीं होती है। अर्थहीनता पैदा होती है इस भ्रांत धारणा से कि जो स्वयं के पास ही नहीं है, उसे भी किसी को दिया जा सकता है। इस अज्ञान से कि जो सुगन्ध मुझ में ही नहीं है, वह भी सम्प्रेषित की जा सकती है। यह अज्ञान बहुत मूल व्यापी है। प्रेमशून्य प्रेम देना चाहते हैं। आनंद-रिक्त आनंद वितरित करना चाहते हैं, दरिद्र समृद्धि दान करने के स्वप्नों से पीड़ित और आंदोलित होते हैं।

मैं देखता हूँ कि जो स्वयं के पास नहीं है, उसे दिया भी नहीं जा सकता है। इसे सिद्ध करने को किसी तर्क और प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। यह तो सूरज की भांति साफ और स्पष्ट है, शायद सूरज से भी ज्यादा स्पष्ट है, क्योंकि आंखें न हों तब भी तो इसे देखा जा सकता है। किन्तु, यह सिक्के का एक ही पहलू है। एक दूसरा पहलू भी है। वह तो और भी आंखों से ओझल हो गया है। कभी-कभी कितना आश्चर्य होता है कि जो इतना निकट और इतना सहज जानने योग्य है, वह भी हमें विस्मृत हो जाता है। शायद, जो बहुत स्पष्ट और बहुत निकट होता है, वह निकटता की अति के कारण ही दीखना बंद हो जाता है।

दूसरा पहलू यह है कि जो स्वयं के पास नहीं है, उसे किसी से लिया भी नहीं जा सकता। जो स्वयं में नहीं है, उसे देना तो संभव है ही नहीं, लेना भी संभव नहीं है। जो

भी अन्य से पाया जा सकता है वह पाने के पूर्व स्वयं में उपस्थित होना चाहिये, तो ही उसके प्रति संवेदनशीलता और ग्रहणशीलता होती है। मैं जो हूँ, उसे ही स्वीकार कर पाता हूँ, उसके लिए ही मुझ में द्वार और उसे आकर्षित करने की क्षमता होती है।

हम देखते हैं कि एक ही भूमि से कैसे भिन्न-भिन्न पौधे, भिन्न-भिन्न रूप, रंग और गंध आकर्षित कर लेते हैं। उनमें जो है, वही उनमें चला भी आता है। वे जो हैं, वही वे पा भी लेते हैं। यही नियम है। यही शाश्वत व्यवस्था है। प्रेम पाने को, प्रेम से भरे होना आवश्यक है। **जो घृणा से भरा है, वह घृणा को ही आमंत्रित करता है।** विष से जिसने अपने को भर रखा है, सारे जगत् का विष उसकी ओर प्रवाहमान हो जाता है।

समान समान को, सजातीय सजातीय को पुकारता है और उसका प्यासा होता है। अमृत को जो चाहता हो, उसे अमृत से भर जाना होता है। प्रभु को जो चाहता है, उसे अपने प्रभु को जगा लेना होता है। **जो चाहते हो, वही हो जाओ।** जिससे मिलना चाहते हो, वही बन जाओ। आनंद को पकड़ने के लिये आनंद में होना आवश्यक है, आनंद ही होना आवश्यक है। आनंद ही आनंद का स्वागत और स्वीकार कर पाता है।

क्या देखते नहीं हैं कि दुखी चित्त ऐसी जगह भी दुख खोज लेता है, जहां दुख है ही नहीं? पीड़ित पीड़ा खोज लेता है, उदास उदासी खोज लेता है। वस्तुतः वे जिसके प्रति संवेदनशील हैं, उसका ही चयन कर लेते हैं। जो भीतर है, उसका चयन भी होता है, और उसी का प्रक्षेपण आरोपण भी होता है। हम जो हैं, उसी को खोज भी लेते हैं। **जगत् की स्थितियां दर्पण हैं, जिसमें हम अनेक कोणों से, अनेक रूपों में अपने ही दर्शन कर लेते हैं।**

मैं जो देता हूँ, वह भी मैं ही हूँ। मैं जो लेता हूँ, वह भी मैं ही हूँ। मैं के अतिरिक्त मेरी कोई सत्ता, कोई अनुभूति नहीं है। उसके बाहर जाना संभव नहीं है। वही संसार है, वही मोक्ष है। वही दुख है, वही आनंद है। वही हिंसा है, वही अहिंसा है। वही विष है, वही अमृत है।

एक मंदिर के द्वार पर हुये विवाद का स्मरण आता है। सुबह की हवाओं में मंदिर की पताका लहरा रही थी। सूरज के स्वर्ण प्रकाश में आंदोलित उस पताका को देखकर दो भिक्षुओं में विवाद हो रहा था कि आंदोलन पताका में हो रहा था कि हवाओं में हो रहा था? किसी निकट से निकलते हुये तीसरे भिक्षु ने कहा था: मित्र, आंदोलन मन में हो रहा है।

सच ही, **सब आंदोलन मन में हो रहा है और मन का हो रहा है।**

मैं यदि भूलता नहीं हूँ, तो महावीर ने कहा है : यह आत्मा ही शत्रु है, यह आत्मा ही मित्र है।

आत्मा की शुद्ध परिणति अहिंसा है, आत्मा की अशुद्ध परिणति हिंसा है। वह व्यवहार की नहीं, मूलतः सत्व की सूचना है। व्यवहार शुद्धि का बहुत विचार चलता है। मैं जैसा देखता हूँ, वह पकड़ और पहुँच उलटी है। व्यवहार नहीं, सत्वशुद्धि करनी होती है। व्यवहार तो अपने से बदल जाता है। वह तो सत्व का अनुगामी है। ज्ञान परिवर्तित हो तो आचार परिवर्तित हो जाता है। ज्ञान ही आधार और केन्द्रीय है। व्यवहार उसी का प्रकाशन है। वह प्राण है, आचार उसका स्पंदन है। साक्रेटीज का वचन है : 'ज्ञान ही चरित्र है।' ज्ञान से अर्थ जानकारी और पांडित्य का नहीं है। ज्ञान से अर्थ है : प्रज्ञा का, सत्व का, सत्ता के साक्षात् से उत्पन्न बोध का। **यह बोध, यह जागरूकता, यह प्रज्ञा ही क्रांति है।**

तथाकथित, विचार संग्रह से उत्पन्न ज्ञान इस क्रांति को लाने में असमर्थ होता है। क्योंकि वस्तुतः वह ज्ञान ही नहीं है। वह नगद और स्वयं का नहीं है वह है उधार, वह है अन्य की अनुभूति से निष्पन्न और इस कारण मृत और निष्प्राण है। आत्मानुभूति हस्तांतरित होने में मृत हो जाती है। उसे जीवित और सप्राण हस्तांतरित करने का कोई उपाय नहीं है। सत्य नहीं, केवल शब्द ही पहुँच पाते हैं। इन शब्दों पर ही आधारित जो ज्ञान है, वह बोझ तो बढ़ा सकता है, मुक्ति उससे नहीं आती है।

मैं जिस ज्ञान को क्रांति कह रहा हूँ, वह 'पर' से संग्रहीत नहीं, 'स्व' से जाग्रत होता है। उसे लाना नहीं, जगाना है। उसका स्वयं में आविष्कार करना है। उसके जागरण पर आचार साधना नहीं होता है, वह आता है—जैसे हमारे पीछे हमारी छाया आती है। आगम इसी ज्ञान को ध्यान में रखकर कहते हैं : पढमं नाणं, तओ दया। पहले ज्ञान है, तब अहिंसा है, तब आचरण है।

यह **केन्द्र के परिवर्तन से परिधि को परिवर्तित करने की विधि है। यही सम्यक् विधि है।** इसके विपरीत जो चलता है, वह बहुत मौलिक भूल में है। वह निष्प्राण से प्राण को परिवर्तित करने चला है, वह क्षुद्र से महत् को परिवर्तित करने चला है, वह शाखाओं से मूल को परिवर्तित करने चला है। ऐसे व्यक्ति ने अपनी असफलता के बीज प्रारंभ से ही बो लिये हैं।

यह स्वर्ण सूत्र स्मरण रहे कि आचार से सत्ता परिवर्तित नहीं होती है, सत्ता से ही आचार परिवर्तित होता है। **सम्यक् ज्ञान, सम्यक् आचार का मूलाधार है।** इससे ही हरिभद्र यह कह सके हैं : आत्मा अहिंसा है और आत्मा ही हिंसा, क्योंकि आत्मा की

अप्रमत्तता से ही अहिंसा फलित होती है और प्रमत्तता से हिंसा। आया चेव अहिंसा, आया हिंसति निच्छओ ऐस, जो होई अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो।

मैं यदि आत्म जाग्रत, अप्रमत्त, अमूर्च्छित हूँ, तो मेरा जो व्यवहार है, वह अहिंसा है।

मैं यदि स्व स्थित हूँ, स्थितिप्रज्ञ हूँ, ब्रह्मनिमज्जित हूँ, तो जीवन परिधि पर मेरा जो परिणाम है, वह अहिंसा है।

अहिंसा प्रबुद्ध चेतना की जगत्तल पर अभिव्यंजना है।

अहिंसा आनंद में प्रतिष्ठित चैतन्य का आनंद प्रकाशन है। दिये से जैसे प्रकाश झरता है, ऐसे ही आनंद को उपलब्ध चेतना से अहिंसा प्रकीर्णित होती है। वह प्रकाशन किसी के निमित्त नहीं है, किसी के लिये नहीं है। वह सहज है और स्वयं है। वह आनंद का स्वभाव है।

एक साधु के जीवन में मैंने पढ़ा है कि किसी ने उससे कहा था : शैतान को घृणा करनी चाहिये। तो उसने कहा था : यह तो बहुत कठिन है, क्योंकि घृणा तो अब मेरे भीतर है ही नहीं। अब तो केवल प्रेम है। चाहे शैतान हो चाहे ईश्वर, प्रेम के सिवाय देने को अब मेरे पास कुछ भी नहीं है। मैं तो उन दोनों में शायद अंतर भी नहीं कर पाऊंगा, क्योंकि प्रेम की आंख कब अंतर कर पाई है ?

यह सब मैं सुनता हूँ कि दूसरों पर दया करना अहिंसा है, तो सच ही मुझे बहुत हैरानी होती है। अहंकार कैसे-कैसे मार्ग अपनी तृप्ति के निकाल लेता है। उसकी आविष्कार क्षमता अद्भुत है। अहिंसा का वस्तुतः किसी से कोई संबंध नहीं है। वह आत्म उद्भूत प्रकाश है, जिन पर वह पड़ता है उन्हें जरूर प्रेम और करुणा का अनुभव हो सकता है, लेकिन उस दृष्टि से वह चेष्टित नहीं है।

यह भी सुनता हूं कि अहिंसा करनी चाहिये, जैसे वह भी कोई क्रिया है, जो कि की और न की जाती है। कभी-कभी सुंदर दिखने वाले उपदेश कितने व्यर्थ और अज्ञानपूर्ण हो सकते हैं, ऐसी बातें सुनकर उनका पता चलता है। **प्रेम क्रिया नहीं है, वह सत्ता की एक स्थिति है।** प्रेम किया नहीं जाता है, प्रेम में हुआ जाता है। **वह संबंध नहीं, सद्भाव है।**

यह बोध भी हो कि मैं प्रेम कर रहा हूँ, तो वह प्रेम नहीं है। प्रेम या आनंद जब स्वभाव होते हैं, तो उनकी उपस्थिति का अनुभव कि मैं प्रेम कर रहा हूँ, क्रिया और सत्ता में भेद का सूचक है। वह भेद यदि उपस्थित है, तो प्रेम चेष्टित है, सत्ता निष्पन्न नहीं है, और वैसा प्रेम प्रेम नहीं है। प्रेम जब संपूर्ण सत्ता से, संपूर्ण व्यक्तित्व से आवि-

भूत होता है, तो उसके पीछे उसे जानने वाला कोई नहीं रह जाता है। कोई प्रेम करने वाला नहीं होता है, केवल प्रेम ही होता है।

मैं अहिंसा से प्रेम का अर्थ लेता हूँ। वह **प्रेम की शुद्ध और पूर्ण अनुभूति है।** प्रेम में जो किसी से संबंधित होने का भाव है, उस भाव के दूर करने के हेतु ही अहिंसा के नकारात्मक शब्द का प्रयोग होता रहा है। उस नकारात्मकता में प्रेम का निषेध नहीं है, निषेध है केवल प्रेम के एक संबंध होने का। प्रेम संबंध नहीं, स्थिति है—इस सत्य पर जोर देने के लिये अहिंसा शब्द का प्रयोग हुआ है। पर जो उसे प्रेम का ही अभाव समझ लेते है, वे बहुत बड़ी भूल कर लेते हैं। वह प्रेम का अभाव नहीं है, केवल उनका अभाव है, जो प्रेम को परिपूर्ण और परिशुद्ध नहीं होने देते हैं। वह उन तत्त्वों का अभाव अवश्य है, जो उसे संबंध की स्थिति से सत्ता की स्थिति तक नहीं उठने देते हैं। वह राग, विराग, आसक्ति, विरक्ति का अभाव है। इन बंधनों से ऊपर उठ कर प्रेम वीतराग हो जाता है।

मैं वीतराग प्रेम को ही अहिंसा कहता हूँ।

अहिंसा प्रेम है, और इसलिये वह नकारात्मक नहीं है, अहिंसा शब्द नकारात्मक है, पर अहिंसा नकारात्मक नहीं है। वह भाव स्थिति अत्यंत विधायक है। उससे अधिक विधायक और कुछ भी नहीं हो सकता है। प्रेम से अधिक जीवंत और विधायक और हो भी क्या सकता है?

प्रेम का अभाव अर्थात् यह हिंसा ही नकारात्मक है, क्योंकि वह स्वभाव विरोध है। मैं अपने प्रति अप्रेम, हिंसा नहीं चाहता हूँ, और कोई भी नहीं चाहता है। प्रत्येक प्रेम का प्यासा क्यों है? अप्रेम की प्यास क्यों किसी को नहीं है?

मैं अनुभव करता हूँ कि हम केवल स्वरूप को ही चाहते और चाह सकते हैं। और, यदि हम अपनी चाह को समझ लें, तो उस चाह में ही हम स्वरूप की ओर छिपे इंगित पा सकते हैं।

मैं प्रेम चाहता हूँ, अर्थात् मेरा स्वरूप प्रेम है।

मैं आनंद चाहता हूँ, अर्थात् मेरा स्वरूप आनंद है।

मैं अमृत्व चाहता हूँ, अर्थात् मेरा स्वरूप अमृत है।

मैं प्रभुत्व चाहता हूँ, अर्थात् मेरा स्वरूप प्रभु है।

और, स्मरण रखना है कि जो मैं चाहता हूँ, वही प्रत्येक चाहता है। हमारी चाहें कितनी समान हैं! और तब क्या हमारी समान चाहें, हमारे समान स्वरूप की उद्घोषणा नहीं हैं?

'मैं' और 'न मैं' में जो बैठा है, वह भिन्न नहीं है। इस अभिन्न चेतना की आकांक्षा अप्रेम, हिंसा के लिये नहीं है। इसलिये मैंने कहा कि **हिंसा नकारात्मक है, क्योंकि वह स्वभाव विरोध है।**

और जो नकारात्मक होता है, वह विध्वंशात्मक होता है। अप्रेम विध्वंश शक्ति है। वह मृत्यु की सेविका है। उस दिशा से चलनेवाला निरंतर गहरे से गहरे विध्वंश और मृत्यु और अंधेरे में उतरता जाता है। वह मृत्यु, है, क्योंकि वह स्वरूप विपरीत आयाम है।

अहिंसा जीवन की घोषणा है। **प्रेम ही जीवन है।**

अहिंसा शब्द में हिंसा की निषेधात्मकता का निषेध है, और मैंने सुना है कि निषेध के निषेध से विधायकता फलित होती है, शायद अहिंसा शब्द में उसी विधायकता की ओर संकेत है। फिर, शब्द तो निस्सार है। शब्द की राख के पीछे जो जीवित आग छिपी है, उसे ही जानना है। वह आग प्रेम की है। और, प्रेम सृजन है।

अप्रेम को मैंने विध्वंश कहा है, प्रेम को सृजन कहता हूँ। जीवन में प्रेम ही सृजन का स्रोत है। विधायकता और सृजनात्मकता के चरम स्रोत और अभिव्यक्ति के कारण ही क्राइस्ट प्रेम को परमात्मा या परमात्मा को प्रेम कह सके हैं। सच ही सृजनात्मकता के लिये प्रेम से अधिक श्रेष्ठ और ज्यादा अभिव्यंजक अभिव्यक्ति खोजनी कठिन है।

मैं देखता हूँ कि यदि अहिंसा की यह विधायकता और स्व-सत्ता दृष्टि में न हो तो वह केवल हिंसा का निषेध होकर रह जाती है। हिंसा न करना ही अहिंसा नहीं है, अहिंसा उससे बहुत ज्यादा है। शत्रुता का न होना ही प्रेम नहीं है, प्रेम उससे बहुत ज्यादा है। यह भेद स्मरण न रहे तो अहिंसा उपलब्धि केवल हिंसा निषेध और हिंसा त्याग में परिणत हो जाती है। इसके परिणाम घातक होते हैं।

नकार और निषेध की दृष्टि जीवन को विस्तार नहीं, संकोच देती है। उससे विकास और मुक्ति नहीं, कुन्ठा और बंधन फलित होते हैं। व्यक्ति फैलने नहीं, सिकुड़ने लगता है। वह विराट् जीवन और ब्रह्म में विस्तृत नहीं, क्षुद्र में और अहम् में सीमित होने लगता है। वह सरिता बनकर सागर तक पहुँच जाता, लेकिन सरोवर बन सूखने लगता है। अहिंसा को जगाना सरिता बनना है, केवल हिंसा त्याग में उलझ जाना सरोवर बन जाना है।

नकार की साधना श्री और सौंदर्य और पूर्णता में नहीं, कुरूपता और विकृत में ले जाती है। वह मार्ग छोड़ने का है, पाने का और भर जाने का नहीं। जैसे कोई स्वास्थ्य का साधक मात्र बीमारियों से बचने को ही स्वास्थ्य साधना समझ ले, ऐसी ही भूल

वह भी है। स्वास्थ्य बीमारी का अभाव ही नहीं, प्राण शक्ति का जागरण है। वह प्राण की प्रसुप्त और बीज शक्ति का जागना और वास्तविक बनना है। बीमारी से बचाव तो मुर्दों का भी हो सकता है, लेकिन उन्हें स्वास्थ्य नहीं दिया जा सकता है। बीमारियों से बच-बच कर कोई अपने को जिलाये रख सकता है, लेकिन स्वास्थ्य और जीवन को पाना बहुत दूसरी बात है। धर्म साधना में भी स्वास्थ्य साधना के इस विज्ञान को याद रखना अत्याधिक उपादेय है।

एक साधु, एक आश्रम में अतिथि था। उसके स्वागत में एक समारोह आयोजित था। उस आश्रम के कुलपति ने अपने आश्रम और आश्रम के अंतेवासियों के परिचय में कहा था : 'हम हिंसा नहीं करते हैं, हम मादक द्रव्यों का उपयोग नहीं करते हैं, हम परिग्रह नहीं करते हैं।' इसी स्वर में उसने और बहुत सी बातें बताई थीं, जो कि साधु नहीं करते थे। वह अतिथि देर तक यह सब सुनता रहा था, और अन्त में उसने पूछा था : 'मैं यह तो समझ गया कि आप क्या नहीं करते हैं, अब कृपया यह और बतावें कि आप करते क्या हैं?'

निश्चय ही, यही मैं भी पूछना चाहता हूँ। 'न करने' और 'करने' के इस बहु-मूल्य भेद की मैं भी याद दिलाना चाहता हूँ।

अहिंसा को, या उस दृष्टि से धर्म को ही जिसने 'न करने' की भाषा में समझा और पकड़ा है, वह बहुत आधारभूत भूल में पड़ गया है। शवीत्जर ने जिसे जीवन निषेध कहा है, वही उसकी चर्या हो जाती है। जीवन सिद्धि के लक्ष्य से उसके संबंध सूत्र विच्छिन्न हो जाते हैं। वह उपलब्धि के आरोहण को खो देता है, और केवल खोने और न होने में लग जाता है। और, सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि खोने की इस सतत् चेष्टा और आग्रह के बावजूद भी जिन्हें वह खोना चाहता है, उन्हें नहीं खो पाता है। संघर्ष से जिन्हें वह दूर करता है, वे किसी रहस्यमय ढंग से उसके निकट ही बने रहते हैं। वह विश्राम भी नहीं कर पाता है कि पाता है कि जिन्हें वह दूर छोड़ आया था, वे सब पुनः वापिस लौट आये हैं। जिन्हें वह दमन करता है, वे वेग न मालूम क्यों और वेग पकड़ते प्रतीत होते हैं। जिन वासनाओं से वह युद्धरत् है, जिनके सिरों को वह धड़ों से अलगकर फेंक देता है, वह अवाक् रह जाता है कि वे सब पुनः पुनः हजार-हजार सिर रखकर फिर उसे घेर कर कैसे खड़ी हो जाती हैं?

हिंसा, क्रोध या काम—कोई भी केवल दमन से विलीन नहीं होता है। नकार और विरोध मात्र से ये वेग समाप्त नहीं होते हैं। उस भांति वे और सूक्ष्म होकर चित्त की और भी गहरी पर्त्तों पर सक्रिय हो जाते हैं। फ्रायड ने जिसे अचेतन मन कहा है, वही दमन से उनका कार्यक्षेत्र बन जाता है। इस दमन और विरोध की दिशा से चलकर व्यक्ति विमुक्त तो नहीं, विक्षिप्त अवश्य हो जाता है।

वस्तुतः जीवनानुभूतियों के जगत् में निषेध के मार्ग से न कभी कुछ पाया गया, न कभी कुछ पाया जा सकता है; न कभी कुछ छोड़ा गया है, न कभी छोड़ा जा सकता है। वह दिशा ही पाने और छोड़ने की नहीं है। असल में सब छोड़ने के पूर्व पाना होता है। **श्रेष्ठ का मिलना ही अश्रेष्ठ का छूटना बनता है।** हीरों के मिलने पर कंकड़ों पर मुट्ठी खोलनी नहीं पड़ती है, वह खुल जाती है।

मैं समस्त **त्याग** को इसी रूप में देख पाता हूँ। वह श्रेष्ठ की उपलब्धि पर उसके लिये स्थान बनाने से ज्यादा नहीं है। वह **ज्ञान का अग्रगामी नहीं, अनुगामी** है। जैसे गाड़ी के पीछे उसके चाकों के निशान बिना बनाये बनते जाते हैं, ऐसा ही उसका आगमन भी होता है। वह ज्ञान की सहज छाया है।

मैं हिंसा को, अधर्म को, अज्ञान को नकारात्मक कहता हूँ, वैसे ही जैसे अंधेरा नकारात्मक है। अंधेरे की अपनी कोई सत्ता नहीं है, उसका कोई स्व-अस्तित्व नहीं है। वह सत्ता नहीं अभाव है। वह स्वयं का होना नहीं, प्रकाश का न होना है। वह प्रकाश की अनुपस्थिति है।

यदि इस कक्षा में अंधेरा व्याप्त हो और हम उसे दूर करना चाहते हों, तो क्या करना होगा? क्या उसे संघर्ष से, धक्के देकर बाहर किया जा सकता है? क्या अंधेरे से किये सीधे युद्ध के परिणाम में उसकी मृत्यु हो सकती है? मित्र, यह कभी नहीं होगा, उस मार्ग से चलने पर अंधेरा तो नहीं, मिटाने वाले अवश्य मिट सकते हैं। अंधेरे को मिटाने का उपाय, अंधेरे को मिटाना नहीं, प्रकाश को जलाना है।

जिसकी अपनी स्व-सत्ता नहीं, उसे निषेध से मिटाना असंभव है। अभाव को न तो लाया जा सकता है, न हटाया जा सकता है। अंधेरे को कहीं ले जाना भी संभव नहीं है। सत्ता ही लाई और सत्ता ही हटाई जा सकती है। **अभाव के साथ सीधी कोई भी क्रिया नहीं होती है।** उसके साथ सब व्यवहार अप्रत्यक्ष होता है। उसके साथ समस्त व्यवहार, उसके माध्यम से होता है, जिसका कि वह अभाव है।

अहिंसा, प्रेम, आनंद, परमात्मा, भावात्मक हैं। उनकी सत्ता है। वे किसी के अभाव, अनुपस्थिति मात्र ही नहीं हैं। उनका स्वयं में होना है। इसलिये, किसी के भाव से उनका होना नहीं होता है। यद्यपि **उनके अभ्युदय से हिंसा, दुःख, अज्ञान आदि अंधेरे की भांति तिरोहित हो जाते हैं।** शायद अंधेरा विलीन हो जाता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह तो था ही नहीं। वस्तुतः प्रकाशागमन पर इस सत्य का दर्शन होता है कि वह न तो था, न है।

यह अब कहा जा सकता है कि **अहिंसा हिंसा त्याग नहीं, आत्म जागरण है।** वह दुःख मुक्ति नहीं, आनंद प्रतिष्ठा है। वह त्याग नहीं, उपलब्धि है। यद्यपि उसके

अविर्भाव से हिंसा विलीन हो जाती है, दुःख निरोध हो जाता है और परम त्याग फलित होता है।

अहिंसा को पाना है, तो आत्मा को पाना होगा । अहिंसा उसी साक्षात् का परिणाम है। उसे साधा नहीं जा सकता है। कृष्णमूर्ति ने पूछा है : क्या प्रेम भी साधा जा सकता है ? और उस प्रश्न में ही उत्तर भी दे दिया है। निश्चय ही साधा हुआ प्रेम, प्रेम नहीं हो सकता है। वह या तो होता है, या नहीं होता है। कोई तीसरा विकल्प, नहीं है। वह सहज प्रवाहित हो तो ठीक, अन्यथा वह अभिनय और मिथ्या प्रदर्शन है।

साधी हुई अहिंसा, अहिंसा नहीं, अभिनय है। विचार और चेष्टा से जो आरोपित है, वह मिथ्या है। **सम्यक् अहिंसा प्रज्ञा से प्रवाहित होती है, वैसे ही जैसे अग्नि से उत्ताप बहता है।** आरोपण से आचरण में जो दीखता है, वह अंतस् में नहीं होता है, नहीं हो सकता है। आचरण और अंतस् की विपरीतता एक सतत् अंतर्द्वन्द्व बन जाता है। जिसे जीता है, उसे बार-बार जीतना पड़ता है। पर जीत कभी पूरी नहीं होती है। वह हो भी नहीं सकती है। वस्तुतः परिधि कभी केन्द्र को नहीं जीत सकती है, आचरण कभी अंतस् को नहीं जीत सकता है। परिवर्तन का प्रवाह विपरीत होता है। वह परिधि से केंद्र की ओर नहीं, केंद्र से परिधि की ओर होता है। अंतस् क्रांति से गुजरता है और आचरण में परिवर्तन होता है।

चेष्टा से लाया हुआ आचरण कभी भी सहज नहीं हो सकता है। वह आदत से ज्यादा नहीं है। मूल्य भी उसका उससे ज्यादा नहीं है। वह स्वभाव तो कभी बन ही नहीं सकता है। आदत कभी भी स्वभाव नहीं है। स्वभाव है ही वह, जिसे बनाने का कोई प्रश्न नहीं है। **आदत सृष्ट है, स्वभाव असृष्ट है। एक को निर्माण और एक को अनावरण करना होता है।**

मित्र, स्वभाव की उत्पत्ति नहीं होती, वह तो है, केवल उसे जानना है, केवल उसे उघाड़ना है। जैसे कोई सोता हो और उसे उठाना पड़े, ऐसा ही उसके साथ भी करना होता है।

मैं एक कुआं खुदता देखता था, तब मुझे स्मरण आया था कि स्वभाव को भी ऐसे ही खोदना होता है। जलस्रोत तो मौजूद थे, पर आवृत्त थे। वे बहने और फूट पड़ने को भी उत्सुक थे, पर अवरुद्ध थे। और जब अवरोध देने वाली मिट्टी की पर्तें दूर हो गई थीं तो वे कैसे स्फुरित हो उठे थे !

स्वभाव के साथ भी कुछ ऐसा ही है। बहने, विकसित और पुष्पित होने की वहां भी चिरप्रतीक्षा है। थोड़ा सा खोदना है, और जीवन एक बिलकुल नये आयाम पर गतिमय हो जाता है। कल तक जो साधकर भी साध्य नहीं था, वह सहज हो जाता है।

कल तक जो छोड़े-छोड़े भी नहीं छूटता था, वह अब खोजकर भी मिलता नहीं है। **जीवन आयाम बदलने की इस कीमिया को जानना ही धर्म है।** अलकेमिस्ट इसकी ही खोज में थे। वे एक ऐसे रसायन की तलाश में थे, जिससे 'लोहा' 'स्वर्ण' में बदल सके। जीवन जैसा पाया जाता है, वह लोहा है, जीवन जैसा हो सकता है वह स्वर्ण है।

और, यदि बहुत ठीक से देखें, तो लोहा केवल आवरण है, वस्त्र है, स्वर्ण नित्य भीतर उपस्थित है।

सद् आचार, अहिंसा स्वभाव का उद्घाटन है, स्वरूप का अनावरण है। महावीर ने उसे इसी अर्थ में लिया है। **जो स्वयं में स्थित है, वही अहिंसा को उपलब्ध है।** जो आचार केवल आचरण है, स्वभाव की सहज स्फुरणा नहीं, वह ब्रह्म में नहीं और गहन अहम् में ले जाता है। उससे अहंकार और परिपुष्ट होता है। उस दिशा से भी अहंकार भरता और बलिष्ट होता है। तथाकथित साधु और संन्यासी में जो प्रगाढ़ दम्भ परिलक्षित होता है, वह अनायास ही नहीं है। उसके मूल में अतिचेष्टा से आरोपित आचरण और प्रयत्न साध्य चरित्र है। यह कमाया हुआ चरित्र वैसे ही अलंकार पूर्ति का साधन बन जाता है, जैसे कमाया हुआ धन बन जाता है। चरित्र भी परिग्रह और संपत्ति का रूप ले लेता है।

असल में जो भी कमाया और अर्जित किया जाता है, वह 'मैं' को भरता है, क्योंकि अर्जन उसकी ही विजय का रूप ले लेता है। कैसा आश्चर्य है कि अर्जित त्याग भी परिग्रह हो जाता है और अर्जित विनय में भी अहंकार उपस्थित होता है। क्या तथाकथित विनय में झुके सिर के पीछे अक्सर दम्भ में उठे सिर के दर्शन नहीं हो जाते हैं ?

एक बार एक साधु से मिलना हुआ था। उन्होंने मुझसे कहा था : मैंने लाखों की संपत्ति पर लात मार दी है। मैं निश्चय ही सुनकर हैरान हो गया था। फिर, उनसे पूछा था : 'यह लात आपने कब मारी ?' वे बहुत गौरव से बोले थे : 'कोई तीस वर्ष हुये।' उनसे मिलकर लौटते समय मैं राह में सोचता आया था कि जो त्याग किया गया हो, वह अहंकार के बाहर नहीं ले जाता है। एक दिन वे इस अहंकार से भरे रहे होंगे कि उनके पास लाखों हैं, आज वे इससे भरे हैं कि उन्होंने लाखों पर लात मार दी है।

त्याग आये तो सम्यक्, किया जावे तो असम्यक् हो जाता है। और यह धर्म की, समस्त साधना के संबंध में सत्य है। अहंकार के मार्ग बहुत सूक्ष्म हैं। अहंकार बहुत रहस्यमय है और उन जगहों पर भी वह उपस्थित हो जाता है, जहां उसके होने की

कल्पना नहीं होती है और जहां ऊपर से उसके दर्शन बिलकुल भी नहीं होते हैं। उसके स्थूल रूप तो दिखाई पड़ते हैं, इसलिये वे उतने घातक भी नहीं हैं। पर सूक्ष्म रूप बहुत घातक हैं, क्योंकि वे साधारणतः दिखाई नहीं पड़ते हैं। इसलिये उनसे बहुत आत्म-वंचना होती है। 'धार्मिक, त्यागी, ज्ञानी, अहिंसक आदि होने का अहंकार वैसा ही है।'

नीति अध्यात्म की स्फुरणा है। और जो तथाकथित आरोपित नैतिकता के अहंकार से परितृप्त हो जाते हैं, वे उस अलौकिक अध्यात्म स्फुरणाजन्य नीति से वंचित रह जाते हैं, जहां अहंकार की छाया भी प्रवेश नहीं कर पाती हैं। सूर्य के प्रकाश में जैसे ओस कण विलीन हो जाते हैं, ऐसे ही **आत्मानुभूति के प्रकाश में अहंकार वाष्पीभूत हो जाता है। वह अज्ञान और अंधकार का प्रवासी है।** उसके प्राण, श्वांस-प्रश्वांस उसी से निर्मित हैं। अज्ञान के अभाव में उसका जीवन संभव नहीं है।

'अज्ञान अहंकार है। ज्ञान अहंकार मुक्ति है। अज्ञान आचरण अहंचर्य है। ज्ञान आचरण ब्रह्मचर्य है। **अहंचर्य हिंसा है। ब्रह्मचर्य अहिंसा है।'**

'मैं' भाव हिंसा में ले जाता है। वह भाव आक्रमक है। समस्त हिंसा उसके ही केंद्र पर आवर्तित होती है। अज्ञान में सत्ता पर 'मैं' आरोपित हो जाता है। आत्मा मैं में पतित हो जाती है। वह जो वस्तुतः नहीं है, उसकी प्रतीति होने लगती है। यह 'मैं' विश्वसत्ता से पृथक् और विरोध में खड़ा हो जाता है। फिर उसे प्रतिक्षण स्वरक्षा में संलग्न होना पड़ता है। मिटने का एक सतत भय उसे घेरे रहता है। एक असुरक्षा चौबीस घंटे उसके साथ बनी रहती है। वह कागज की नाव है, और किसी भी क्षण उसका डूबना हो सकता है। वह ताशों का घर है, और हवा का कोई भी झोंका उसे नष्ट कर सकता है।

यह भय हिंसा का जन्म है। हिंसा अपने मूल मानसिक रूप में भय ही है। यह भय आत्मरक्षा से आक्रमण तक विकसित हो सकता है। वस्तुतः तो आक्रमण भी आत्म-रक्षण का ही रूप है। मेकयावेली ने कहा है कि आक्रमण आत्मरक्षा का सर्वोत्तम उपाय है। भय यदि आत्मरक्षण तक ही सीमित रहे, तो अंततः कायरता पैदा हो जाती है। वही भय आक्रमक होकर वीरता जैसा दिखाई पड़ता है। पर कायरता हो या तथाकथित वीरता, भय दोनों में ही उपस्थित रहता है, और वही दोनों का चालक है। जिनके हाथ में तलवार दिखाई देती है, वे, और वे भी जो पूंछ दबाकर कहीं छिप रहते हैं, दोनों ही भय से संचालित हैं।

यह जानना आवश्यक है कि भय क्या है, क्योंकि जो भयग्रस्त हैं, कभी अहिंसक नहीं हो सकते हैं। और, यदि भयग्रस्त व्यक्ति अहिंसक होने की चेष्टा करे तो वह केवल कायर हो पाता है, अहिंसक नहीं। इतिहास और अनुभव इसके बहुल और सबल

प्रमाण देते हैं। अहिंसा का आधार अभय है। अभय के अभाव में अहिंसा का जन्म संभव नहीं है। महावीर और बुद्ध ने **अभय को अहिंसा की अनिवार्य शर्त** माना है।

मैं देखता हूँ कि मनुष्य की संपूर्ण चेतना ही भय से घिरी और बनी है। उसके मन के किसी तल पर वह सदा ही मौजूद है। यह भय—चाहे उसके प्रगटन के रूप कोई भी हो—मूलतः मृत्यु का भय है। जीवन भर मृत्यु घेरे रहती है। वह प्रतिक्षण आसन्न है। किसी भी घड़ी और किसी भी दिशा से उसका आगमन हो सकता है। कभी भी संभावित इस मृत्यु से भय स्वाभाविक ही है। एक तो वह एकदम अपरिचित है, और दूसरे मनुष्य उसके सामने पूर्ण विवश है। अपरिचित और अनजान से भय मालूम होता है। जीवन असह्य हो, तब भी कम से कम परिचित तो है। मृत्यु अज्ञात में ले जाती है। यह अज्ञात भय देता है। फिर, उस पर हमारा कोई वश नहीं है। हम उसके साथ कुछ कर नहीं सकते हैं। यह विवशता हमारे अहंकार को आमूल खंडित कर देती है। जिस अहंकार के पोषण को हमने जीवन समझा था, वह टूटता और नष्ट होता दीखता है। वही तो हमारा होना था, वही तो हम थे, और इससे मृत्यु जीवन का अंत मालूम होती है।

हम क्या हैं? शरीर और चित्त, और उन दोनों के जोड़ से फलित अहंकार, लेकिन मृत्यु की लपटें तो उन्हें राख करती हुई मालूम होती हैं। उनके पार और अतीत कुछ भी तो शेष बचता नहीं दीखता है? फिर, मनुष्य कैसे भयभीत न हो? वह कैसे अपने को सांत्वना दे? ऐसी स्थिति में भय स्वाभाविक है; और इस भय से बचाव के लिये व्यक्ति कुछ भी करने को तैयार हो जाता है।

इस भय से हिंसा के अनेक रूपों की उत्पत्ति होती है। इसलिये, मैं कहता हूँ कि भय ही हिंसा है; और अभय अहिंसा है। हिंसा से मुक्त होने के लिए भय से मुक्त होना होता है। भय से मुक्त होने के लिये मृत्यु से मुक्त होना होता है। मृत्यु से मुक्त होने के लिये स्वयं को जानना होता है।

'मैं पर को जानता हूँ, स्व को नहीं जानता हूँ,' यह कैसा आश्चर्यजनक है? क्या उससे भी ज्यादा आश्चर्य की कोई और बात हो सकती है?

यह कैसा रहस्यपूर्ण है कि मैं बाहर से परिचित और अंतः से अपरिचित हूँ?

यह आत्म अज्ञान ही जीवन के समस्त दुःख, अनाचार और अमुक्ति का कारण है।

ज्ञान की शक्ति तो मुझ में है, अन्यथा मैं पर को, बाहर को भी कैसे जानता? वह तो अविच्छिन्न मुझ में उपस्थित है। मैं जागता हूँ, तो वह है। मैं सोता हूँ, तो वह है। मैं स्वप्न में हूँ, तो वह है। मैं स्वप्नशून्य सुषुप्ति में हूँ, तो वह है। मैं जागने को निद्रा को, स्वप्न को, सुषुप्ति को जानता हूँ। मैं उनका दृष्टा हूँ, उनका ज्ञान हूँ। मैं ज्ञान, हूँ, क्योंकि जो मुझमें है अविच्छिन्न है, वह मेरा स्वरूप ही है। ज्ञान के अतिरिक्त

मुझमें कुछ भी अविच्छिन्न नहीं है। वस्तुतः मैं ज्ञान से पृथक् नहीं हूँ। मैं ज्ञान ही हूँ। **यह ज्ञान ही मेरी सत्ता, मेरी आत्मा है।**

मैं ज्ञान हूँ, इसलिये 'पर' को जान रहा हूँ। मैं ज्ञान हूँ, इसलिये 'स्व' को जान सकता हूँ।

यह बोध भी कि मैं अपने को नहीं जानता हूँ, स्व ज्ञान की ओर बहुत बड़ा चरण है।

मैं पर को देख रहा हूँ, इसलिये पर को जान रहा हूँ। यदि पर को न देखूं, यदि पर चैतन्य के सामने से अनुपस्थित हो, तो जो शेष रहेगा, वही स्व है।

स्व को 'देखा' तो नहीं जा सकता है। स्व को देखना पर को देखना है। स्व तो दृष्टा है। वह तो देखने वाला है। वह दृश्य में परिणित नहीं हो सकता है। इसलिये स्व भी नहीं दीखता है, **कोई भी दृश्य नहीं हैं, तब जो है, वही मैं हूँ।**

शुद्ध चैतन्य का अनुभव आत्मानुभव है।

मैं पर से घिरा हूँ, इसलिये पूछूंगा कि आत्मानुभव के लिये पर को अनुपस्थित कैसे करूं ? वह तो सदा घेरे हुये है।

पर, 'पर' तो आंख बंद करते ही अनुपस्थित हो जाता है इसलिये वह कोई समस्या नहीं है।

विचार है वास्तविक समस्या। 'पर' के जो प्रतिबिम्ब, जो प्रतिफलन चित्त पर छूट जाते हैं, और हमें घेरे रहते हैं, वे ही समस्या हैं। उनको ही जानते रहने से हम उसे नहीं जान पाते हैं जो कि उनको भी जान रहा है। विचार के कारण चेतना नहीं ज्ञात हो पाती है। विचार प्रवाह का जो साक्षी है, उसमें जागना है। **साक्षी में जागना है और साक्षी को जगाना है। यही ध्यान है।**

विचार के अमूर्च्छित दर्शन से, विचार प्रवाह के प्रति सम्यक् जागरण से क्रमशः विचार प्रवाह में जो अंतराल हैं, उनका अनुभव होता है। वे रिक्त स्थान क्रमशः बड़े होते जाते हैं। विचार को मात्र देखने भर से, केवल उसका दृष्टा बनने से (बिना किसी दमन और संघर्ष के) वह विसर्जित होता है। विचार प्रवाह का दर्शन, विचार शून्यता पर और विचार के अतीत ले जाता है।

विचार का शून्य हो जाना ध्यान है। विचार शून्यता में सच्चिदानंद का अनुभव समाधि है। समाधि सत्य दर्शन है।

समाधि की अनुभूति सत्य है। समाधि का व्यवहार अहिंसा है।

समाधि में दीखता है कि जो है, अमृत है। मृत्यु का भ्रम विसर्जित हो जाता है। मृत्यु के साथ भय चला जाता है, और अभय उत्पन्न होता है।

अभय से अहिंसा प्रवाहित होती है।

समाधि में स्व से पहुँचा जाता है, पर उसमें पहुंचकर आत्म और अनात्म विलीन विलीन हो जाते हैं। वह भेद विचार का था। **समाधि, भेद और द्वैत के अतीत है। वह अद्वव और अद्वैत है।** जैसे बाती दिये के तेल को जलाकर स्वयं भी जल जाती है, वैसे ही स्व भी पर से मुक्त करके स्वयं से भी मुक्त कर जाता है। मैं की मुक्ति, मैं से भी मुक्त है।

समाधि ब्रह्म साक्षात् है। ब्रह्मानुभूति से ब्रह्मचर्य स्पंदित होता है। ब्रह्मचर्य का केन्द्र सत्य और परिधि अहिंसा है। **समाधि में सत्य के फूल लगते और अहिंसा की सुगंध फैलती है।**

भगवान श्री रजनीश हिन्दी साहित्य

क्र.	पुस्तक	मू. रु.
१	महावीर मेरी दृष्टिमें	३०-००
२	महावीर - वाणी	३०-००
३	जिन खोजा तिन पाईयां	२०-००
४	ईशावास्योपनिषद्	१२-००
५	प्रेम है द्वार प्रभुका	८-००
६	आचार्य रजनीश समन्वय, विश्लेषण, संसिद्ध	७-५०
७	घाट भुलाना वाट बिनु	७-००
८	समुन्द समाना बुंद में	७-००
९	सूली ऊपर सेज पिया की	७-००
१०	सत्यकी पहली किरण	६-००
११	में कहता आंखन देखी	६-००
१२	अन्तर्वीणा	६-००
१३	ढाई आखर प्रेमका	६-००
१४	संभावनाओं की आहट	६-००
१५	संभोग से समाधि की ओर	६-००
१६	साधना-पथ	५-००
१७	अहिंसा दर्शन	१-००
१८	गहरे पानी पैठ	५-००
१९	अमृत कण	१-००
२०	प्रेम के फूल	५-००
२१	मिट्टी के दिये	५-००
२२	बिखरे फूल	१-००
२३	अन्तर्यात्रा	५-००
२४	गीता दर्शन	५-००
२५	सत्य की खोज	४-००
२६	समाजवाद से सावधान	४-००
२७	पथ के प्रदीप	४-००
२८	में कौन हूँ ?	३-००
२९	क्रान्ति की वैज्ञानिक प्रक्रिया	१-००
३०	काम योग धर्म और गांधी	३-००
३१	प्रेम और विवाह	१-५०
३२	विद्रोह क्या है ?	१-५०
३३	प्रगतिशील कौन ?	१-५०
३४	ज्योतिष अर्थात् अध्यात्म	१-५०
३५	ज्योतिष : अद्वैत का विज्ञान	१-५०
३६	सिंहनाद	१-५०
३७	सारे फासले मिट गये	१-२५
३८	मन के पार	१-००
३९	धर्म और राजनीति	१-००
४०	युवक और यौवन	१-००
४१	अवधिगत सन्यास	०-३०
४२	नव संन्यास	०-३०

पुस्तकें मिलने का पता :—

जीवन जागृति केन्द्र

३१, इजराइल मोहल्ला, भगवान भुवन, मस्जिद बंदर रोड, बम्बई–९.

फोन : ३२७६१८/२१

A–१, वूडलॅन्ड अॅपार्टमेंट, पेडर रोड, बम्बई–२६. फोन : ३८११५९